पुष्टिमार्गीय साहित्य में वेद

डा. हृदय रंजन शर्मा

हिन्दी साहित्य के अगाध एवं रत्नाकर रूप महासरोवर में पुष्टिमार्गीय धारा अपनी गङ्गा यमुनी सिद्धान्त तरणी के आधार पर भारतीय जनमानस को अधिकाधिक रूप से अपने परमाराध्य भगवान् श्रीकृष्ण की अनुग्रह कृपादृष्टि से परिपोषित करती हुई आज समग्र विश्व में व्यवहारपरक आध्यात्मिक संदेश को अविरल भाव से प्रवाहित कर रही है। इसका प्रवर्त्तन आचार्य श्री वल्लभाचार्यजी के नेतृत्व में प्रधान रूप से हुआ। इस मत के अन्तर्गत परब्रह्म परमेश्वर स्वयं निर्विकार निराकार रहता हुआ अपनी अविनाभूत इच्छाशक्ति के आधार पर अपने सत् चित् और आनन्द भाव को आविर्भाव तथा तिरोभाव के माध्यम से लेलायमान करता रहता है। इस सृष्टि में जड़ जगत् के रूप में पदार्थ भी ब्रह्म का ही रूप है, परन्तु इसमें ब्रह्म के चित् एवं आनन्द स्वरूपों का पूर्ण से तिरोभाव तथा सत् स्वरूप का आंशिक आविर्भाव सन्निहित हुआ है। इसी प्रकार चेतन जगत् भी ब्रह्मस्वरूप है किन्तु इसमें ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द स्वरूपों का आंशिक रूप से आविर्भाव हुआ है। माया भी ब्रह्म की ही शक्ति है और उसी की इच्छा से अनेक रूपों में विभाजित व प्रकाशित होती रहती है। जीव अपने ब्रह्मस्वरूप को शुद्धभाव से तभी प्राप्त कर पाता है जब उसका आविर्भाव व तिरोभाव स्वरूप संकोच मिट जाता है। यह संकुचित भाव का परिवेश केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही संभव है। इस अनुग्रह भाव को ही ईश्वर की पुष्टि या पोषण के रूप में परिभाषित किया गया है। इस आधार पर जहाँ दार्शनिक पक्ष में श्री वल्लभाचार्याजी का यह मत शुद्धाद्वैत कहलाता है, वहीं भक्तिपक्ष में इसे पुष्टिमार्ग के रूप में मान्यता प्राप्त हुई है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण ही परमाराध्य हैं। इस मार्ग के अन्तर्गत जीव तीन प्रकार के माने गये हैं। इनमें से सत्त्व, रज और तमोगत गुणों के प्रभाव व प्रवाह में निरन्तर बहने वाले प्रवाही-जीव, लोक वेद की मर्यादानुसार जीवन यापन में रत मर्यादी-जीव तथा श्रीमद् भगवत् कृपा प्राप्त पुष्टि-जीव है। ये भगवद् अनुग्रह (पोषण) प्राप्त पुष्टि-जीवों को भवत् स्वरूप सायुज्य मोक्ष प्राप्त होता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त के मूल स्रोत के रूप में श्रुतिगत कतिपय उद्धरण दृष्टिगत होते हैं। यथा—

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव। सोऽकामयत। जाया मे स्यात्। अथ प्रजायेय। अथ वित्तं मे स्यात्। अथ कर्मकुर्वीयेति। .....स यावदप्येतेषामेकैकं नाप्नोति। अकृत्स्न एव तावन्मन्यते। तस्य उ कृत्स्नता। (श.ब्रा. 14.1.2.30) अर्थात् मूलरूप आत्मतत्त्व ही एक अखण्ड सत्ता के रूप में रहता है। वह अपनी इच्छाशक्ति से सृष्टि के अन्तर्गत चेतन अचेतन रूप जड़ जङ्गम जीव समूह का आविर्भाव तथा तिरोधान करता हुआ अन्ततः पूर्णता को प्राप्त कराता है।

तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतमासीत्। तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत। असौनामाऽयम् इदं रूप इति।। (श.ब्रा. 14.1.2.15) अर्थात् सृष्टि के पूर्व बीज रूप में सारा जगत् नामरूप रहित (अव्याकृत) रहता है, वह परमात्मा इसे स्वयं नाम व रूप के साथ प्रकाशित करता है।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे। मूर्तं चैवामूर्तञ्च। मर्त्यं चामृतञ्च। स्थितञ्च यच्च। सच्च त्यच्च। (श.ब्रा.14.2.3.1)

उस ब्रह्म के मायामय दो रूप दृष्टिगत होते हैं। प्रथम मूर्त अर्थात् मरणधर्मी तथा तद्विपरीत अमृत अमरण रूप, स्थित अर्थात् परिच्छिन्न अविर्भाव और तिरोधान युक्त जीवमय तथा यत् 'एति वयाप्नोति' सर्वव्यापकरूप अपरिच्छिन्न आविर्भाव तिरोभावरहित। तथा च सत् अर्थात् प्रत्यक्ष लीलारूप दृश्यमान तथा त्यत् अर्थात् परोक्ष योगिज्ञानजन्य इति।

तथा च–

रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश।। (ऋ. 6.47.18)

अर्थात् आकाश के समान व्यापक, सदा आनन्दमय व निर्विकार वह परमात्मा अपनी मायारूप उपाधि से देव, मनुष्य पशु पक्षी आदि समस्त जीवभाव की सत्ता को प्रकाशित करता है। उसका यह विविध रूप उसकी परमैश्वर्य शक्ति का परिचायक है। इस परमेश्वर की एक हजार अर्थात् अनन्त संख्याक इन्द्रिय वृत्तियां है। इस प्रकार वह परमात्मा स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणरूप विश्व प्रपञ्च का एकमात्र नियोक्ता व प्रयोक्ता है।

पुष्टिमार्गीय कृष्णभक्ति परम्परा की इस पवित्र धारा में अन्तः बाह्य रूप से अवगाहित अनेक कवियों ने सुन्दर मधुर पदों की बड़े विस्तार से रचनाएं की हैं। इन रचनाओं में भगवान् श्रीकृष्ण की अनुपम, मनोहारी, प्रेममयी मूर्ति को ही आधार बनाकर अध्यात्मपरक प्रेमतत्त्व की बड़े ही विस्तार एवं गम्भीर आत्मनिवेदन के साथ व्यंजनोन्मुख अवतारणा हुई है। श्री वल्लभाचार्यजी के सुपुत्र गोसाई विट्ठलनाथजी जब इस परम्परा की गद्दी पर आसीन हुए तो उन्होंने उपर्युक्त भक्त कवियों के समुदाय से आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर अष्टछाप की प्रतिष्ठा की। इन प्रसिद्ध अष्टछाप कवियों के अनर्गत 'श्रीकृष्णः शरणं मम' के परमोपासक श्री सूरदासजी मूर्ध स्थानीय हैं। इन्हें 'पुष्टिमार्ग का जहाज' के रूप में जनमानस की मान्य अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। अष्टछाप में इनके अतिरिक्त कुंभनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास कविजन परिगणित होते हैं।

यहाँ इस निबन्ध के पोषण क्रम में महाकवि सूरदासजी द्वारा रचित **सूरसागर** ग्रन्थ के कतिपय उद्धरण प्रस्तुत हैं। इन रचनाओं में वेदच्छाया की छाप बड़े ही स्फुट (प्रत्यक्ष) भाव के साथ परिलक्षित हुई है। यथा–

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल कौ रस, अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरन्तर, अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप रेख गुण जाति जुगुति बिनु, निरालम्ब छित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातै, सूर सगुन पद गावै।। (सूरसागर 2)

वेदच्छाया–

ॐ न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरंति।। (ऋ. 10.82.7)
ॐ विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः।। (ऋ. 10.82.2)
हरि को जस गावति गोपंगना।
मनिमय आंगन नंदराइकौ बाल गुपाल करैं तहं रंगना।
गिरि गिरि परत घुटुरुपनि रेंगत खेलत हैं दोउ छगना मगना।
धूसरि धूरिदुहूं तन मंडित, मातु जसोदा लेति उछंगना।
वसुधा त्रिपद धरत नहिं आलस, तिनहिं कठिन भयौ देहरि उलंफना। (सूरसागर 122)

इस रचना में कवि सूरदासजी ने '**वसुधा त्रिपद धरत नहिं आलस**' वाक्यविधान के माध्यम से वेदोक्त मन्त्र **ॐ इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे।।** (ऋग्वेद 1.22.7) की अर्थाभिव्यक्ति को प्रकाशित किया है। अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक रूप जगत् को अपने तीन पग से सहसा परिवृत करने वाले परम प्रभु इस बाल लीला में देहरी भी कठिनता से लांघ रहे हैं।

इसी प्रकार निम्नलिखित रचना में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक परम प्रभु को पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय सम्मित स्थूल शरीर को साथ पालने में लेटे हुए दर्शाया गया है। यथा—

देखौ अद्भुत अविगत की गति कैसो रूप धर्‌यौय है (हो)।
तीनि लोक जिहिं उदर-भवन सो, सूपकै कोन पर्‌यौ है (हो)।
जाके नाल भए ब्रह्मादिक, सकल जोग व्रत साध्यौ (हो)।
जिन स्त्रवनहि जनकी विपदा सुनि, गरुड़ासन तजि धावै (हो)।
तिन स्त्रवननि ह्वै निकट जसोदा, हलरावै असि गावै (हो)।
रूप विराट कोटि प्रति रोमनि, पलना मांझ परै है (हो)। (सूरसागर 137)

वेदच्छाया— **ॐ सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।**
स भूमिं सर्वतस्पृष्ट्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।। (ऋग्वेद 10.90.1)

इस मन्त्र में विराट् पुरुष की अनन्तानन्त कोटि सत्ता को चेतन अचेतन रूप जगत् में अन्तः बाह्य रूप से ओत प्रोत बतलाया गया है। पुनश्च सर्वव्यापी वह परमात्मा दशाङ्गुल सत्तामय सूक्ष्म जीवभाव से तथा ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय रूप स्थूल शरीर भाव से इस जड़ जङ्गम रूप जगत् में व्याकृत हो रहा है।

इस क्रम में महाकवि सूरदासजी की निम्नलिखित रचना "सतिया" (स्वस्तिक) शब्द के माध्यम से इस ब्रह्माण्ड की समस्त आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक सत्तागत सुख समृद्धि रूप परिपूर्णता को बड़ी ही स्पष्टता के साथ निरूपित करती हुई दृष्टिगत होती है। महाकवि सूरदासजी यद्यपि जन्मान्ध थे परन्तु इस रचना में मंगलकारक स्वस्तिक चिह्न के निर्माण में सात सींक के टुकड़ों द्वारा जिस रचना प्रक्रिया को संकेतित किया है उसे पूर्ण रूप से यागादि अनुष्ठानों में वेदपरम्परागत प्रायोगिक प्रक्रिया से सुपरिचित विद्वान् आज भी चिन्हित करते हैं। इस क्रम को एक से सात संख्यागत अंकों के माध्यम से निम्नांकित रूप में निदर्शित किया गया है। यथा—

मांगलिक

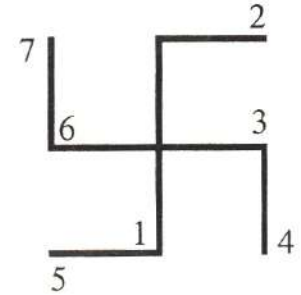

स्वस्तिक चिह्न

उपर्युक्त मांगलिक प्रत्यक्ष चिह्न आधिभौतिक समस्त सुख शान्ति का प्रतीक व प्रदायक है। उपर्युक्त सात अंकों से निर्मित यह स्वरूप आधिदैविक स्तर पर मनुष्य के शिरोभाग में स्थित सप्त छिद्रों (दो आंख + दो कान + दो नासिका + एक मुख) में स्थित प्राणशक्ति के अभिमानी देवताओं को निदर्शित करता है तथा आध्यात्मिक स्तर पर शब्दब्रहम के रूप में प्रतिष्ठित सात स्वरों (vowels) की सत्ता को रूपायित करता है। ये सात स्वर "ऋक् + यजुः + साम + ब्रह्म" इन चार शब्दों में स्थित बतलाए गये हैं। अर्थात् ऋक् = 1 स्वर, यजुः = 2 स्वर, साम = 2 स्वर तथा ब्रह्म = 2 स्वर मिलकर कुल सात स्वर।

इस प्रकार से स्वस्तिक चिह्न के सात अंकों का संकेत करके सूरदासजी ने अपनी ईश्वरानुग्रहरूप दिव्य दृष्टि की सार्थकता को पूर्णतया सिद्ध व समृद्ध किया है।

रचना— **बहुत नारि सुहाग सुंदरि, और घोष कुमारि।**
सजन प्रीतम नाम लै लै, दे परस्पर गारि।
धनंद अतिसै भयो घर घर, नृत्य ठावंहिं ढांवं।
नंद द्वारै भेंट लै लै, उमर्‌यौ गोकुल गांव।
चौक चन्दन लीपिकै, धरि आरती संजोइ।
कहति घोष कुमारि, ऐसौ अनंद जौ नित होइ।
द्वार सतिया देति स्यामा, सात सींक बनाइ।
नव किसोरी मुदित ह्वै ह्वै, गहत जसुदा पाइ। (सूरसागर 29)

वेदच्छाया—

आधिभौतिक— **ॐ प्रतिपन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्।**
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु।। (शु. यजुर्वेद 4.29)

आधिदैविक— **ॐ सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।**
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।। (शु. यजुर्वेद 34.55)

आध्यात्मिक— **ॐ सप्ताक्षरं वै ब्रह्म। ऋगित्येकाक्षरम्। यजुरिति द्वे। सामेति द्वे। अथ यदतोऽन्यद् ब्रह्मैव तद्। द्वयक्षरं वै ब्रह्म। तदेतत्सर्वम्। सप्ताक्षरं ब्रह्म।** (श.ब्रा. 10.2.4.6)

अंत में माता यशोदा द्वारा श्रीकृष्ण लला को सुलाने के लिए कही जाने वाली विविध पौराणिक आदि कहानियों में से जिस कहानी को सुनकर अपने रामावतार की स्मृति से सद्यःस्फूर्त कृष्णलला "क्व धनुर्धनुर्धनुरिति" कह उठे उस श्लोक से उन्हें नमन करते हुए अपनी भावाभिव्यक्ति को स्वस्थ करता हूँ।

नमन श्लोक—

रामो नाम बभूव हुं तदबला सीतेति हुं तौ पितुर्वाचा पंचवटी वने निवसतस्तामाहरद्रावणः।
कृष्णेनेति पुरातनीं निजकथामाकर्ण्य मात्रेरितां सौमित्रे! क्व धनुर्धनुर्धनुरिति प्रोक्ता गिरः पान्तु वः।।

* * *